प्रतिक्रमण-सम्बन्धी विशिष्ट मर्मस्पर्शी प्रश्नोत्तर

(आवश्यक सूत्र पर आधारित)

प्रश्न 'करेमि भंते' में सांकेतिक रूप से छः आवश्यक कैसे आते हैं?

उत्तर १. **सामायिक आवश्यक** - सामाइयं (''समस्य आयः समायः, सः प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्।'') पद से सामायिक आवश्यक का ग्रहण होता है।

२. **चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक** - 'भंते!' पद से दूसरा आवश्यक गृहीत हो सकता है।

३. **वन्दना आवश्यक** - ''पज्जुवासामि'' से तीसरा आवश्यक आता है। पर्युपासना तिक्खुत्तो में भी आता है। भंते- ''सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैर्दीप्यते इति भान्तः स एव भदन्तः'' सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रत्नत्रय के धारक गुरु होते हैं, अतः 'भंते' से भी तीसरे आवश्यक का संकेत मिलता है।

४. **प्रतिक्रमण आवश्यक** - पडिक्कमामि- ''पडिक्कमामि इत्यस्य प्रतिक्रमामि।'' से चतुर्थ आवश्यक गृहीत होता है।

५. **कायोत्सर्ग आवश्यक**- 'वोसिरामि' (''विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि'') पद से पाँचवें आवश्यक का ग्रहण होता है।

६. **प्रत्याख्यान आवश्यक** - सावज्जं जोगं पच्चक्खामि-(''पापसहितं व्यापारं प्रत्याख्यामि।'') पदों से प्रत्याख्यान आवश्यक स्वीकृत होता है।

प्रश्न कायोत्सर्ग किन-किन कारणों से किया जाता है?

उत्तर १. **काउस्सग्गं** - ''तस्सउत्तरी'' पाठ के अनुसार संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित करने के लिए और पाप कर्मों का समूल नाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

२. **चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं**- ''इच्छामि णं भंते'' पाठ के अनुसार दिनभर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

३. **इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**...- दिवस संबंधी ज्ञानादि के १४ अतिचारों का मन-वचन-काया से जो सेवन किया गया, उनका कायोत्सर्ग किया जाता है।

४. **देवसियं**....कास्सग्गं- दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न 'तस्स उत्तरीकरणेणं' में वर्णित कायोत्सर्ग के ५ कारणों के क्रम का क्या हेतु है?

उत्तर कायोत्सर्ग हेतु तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहिकरणेणं, विसल्ली करणेणं, पावाणं, कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि.... ये पाँच कारण प्रतिपादित हैं।

उस आत्मा की उत्कृष्टता के लिए अर्थात् ऊपर उठाने के लिए कायोत्सर्ग करना है। शास्त्र में कई स्थानों पर आत्मा के लिए 'वह' और शरीर के लिए 'यह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन ५ कारणों में कायोत्सर्ग का हेतु प्रकट किया गया है। इनके क्रम को जानने के लिए द्रव्य दृष्टान्त का आलम्बन- जैसे १. किसी के पैर में काँटा लग गया। २. उस काँटे की वेदना असह्य हो जाती है और उसको बाहर निकालने की तीव्र भावना जगती है ३. परन्तु गंदे पैर में काँटा नजर नहीं आता, इसलिए उसे पहले जल आदि के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। ४. तत्पश्चात् काँटे को बाहर निकाला जाता है। ५. उस काँटे को निकालने पर भी कुछ मवाद-गंदा खून आदि रह जाता है तो उसे भी दबाकर बाहर निकाल दिया जाता है। यही हेतु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित होता है- सर्वप्रथम साधक के अन्तर में आत्मा को ऊपर उठाने के भाव जगते हैं जब वह आत्मा को देखता है तो दोषों का दलदल नजर आता है। उस दलदल का कारण उसी के कषाय एवं अशुभ योग हैं। अतः उसके प्रायश्चित्त के भाव जगते हैं। प्रायश्चित्त करने से पुराना दलदल तो कम हुआ, पर झाड़ू के बाद पोचे (पानी की धुलाई) से अधिक स्वच्छता आ जाती है, इसी कारण से कहा-'विसोहिकरणेणं।' जब कपड़ा धुलकर स्वच्छ हो जाता है तब उसमें कई दाग दिखते हैं, साधक को भी गहराई से अवलोकन करने पर शल्य दिखाई देते हैं- वही विसल्लीकरणेणं। अब तो शीघ्रातिशीघ्र इन धब्बों की भी शुद्धि अर्थात् शल्यों का निराकरण। कपड़े को धो लेने पर प्रेस द्वारा उसमें और चमक आ जाती है, वैसे ही साधक लेशमात्र रह गये पाप-कर्मों की शुद्धि के लिए तत्पर होता है।

अतः परस्पर सूक्ष्मता की दृष्टि से ही इनका यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न संख्या की दृष्टि से न्यूनतम गुण वाले गुणात्मक रूप से श्रेष्ठ कैसे?

उत्तर पंच परमेष्ठी में १०८ गुण होते हैं। अरिहंत में १२, सिद्ध में ८, आचार्य में ३६, उपाध्याय में २५, साधु में २७ = कुल १०८। गुणात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। संख्या की दृष्टि से देखने पर तो सबसे कम गुण सिद्ध भगवान् में होते हैं। गहराई से अवलोकन व चिन्तन किया जाए तो प्रतीत होता है- महत्त्व संख्या का नहीं है, गुणों की महानता का है। उपाध्याय के २५ गुण सिद्ध भगवान् के अनन्त ज्ञान के आगे बूँद के समान भी नहीं हैं। साधु के २७ गुण, चरणसत्तरी, करणसत्तरी को मिला देने पर भी सिद्धों के आत्मसामर्थ्य के आगे नगण्य हैं।

अरिहंत के १२ गुणों में ८ तो पुद्गलों पर ही आधारित हैं, मात्र ४ ही आत्मिक गुण हैं। यह तो सिद्ध भगवान के गुणों की संख्या से भी कम तथा गुणात्मक दृष्टि से भी न्यून हैं। केवलज्ञान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलदर्शन में समानता होने पर ४ अघातीकर्म शेष रहने से वे आत्माएँ पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई हैं।

व्यावहारिक जगत् में जैसे सिक्के कई होने पर भी ५०० के एक नोट की बराबरी नहीं कर सकते। संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो ५०० का नोट तो एक ही है और सिक्के बहुत से हैं। पर महत्त्व उन सिक्कों से एक नोट का ज्यादा है। वैसे ही, सिद्धों में गुण संख्या की दृष्टि से न्यून हैं, पर गुणात्मक रूप से तो सर्वश्रेष्ठ ही हैं। अरिहंतों के १२ गुण तथा आचार्यों के ३६ गुण संख्या की दृष्टि से तो ज्यादा हैं, पर अरिहंतों के अष्ट महाप्रातिहार्य के आगे आचार्य की सम्पदा न्यून है और शेष ४ गुणों में आचार्य के सभी गुण स्वतः ही समाहित हो जाते हैं, जैसे- एक किलोमीटर में कई मिलीमीटर समा जाते हैं।

प्रश्न क्या श्रावक को श्रमण सूत्र के ५ पाठों से प्रतिक्रमण करना उचित है? पक्ष-विपक्ष में तर्कों की समीक्षा कर निष्कर्ष बताइये।

उत्तर श्रमण का अर्थ है साधु या साधु प्रधान चतुर्विध संघ-

१. **पूर्व पक्ष-** व्यवहार में श्रमण 'साधु' का ही नाम है तथापि भगवंत ने चारों तीर्थों को ही श्रमण संघ के रूप में कहा है। भगवतीसूत्र के २०वें शतक व ८वें उद्देशक में श्रमणसंघ में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका का समावेश है।

उत्तरपक्ष- श्रमणसूत्र नाम से ही स्पष्ट है कि श्रमणों का प्रतिक्रमण। 'श्रमण' शब्द आगमिक भाषा में साधु का पर्यायवाची है। किसी भी आगम, टीका, कोष में श्रमण का अर्थ श्रावक देखने में नहीं आया। बल्कि सूत्रकृतांग, ठाणांग, भगवती, अनुयोगद्वार आदि आगमों की अनेक टीकाओं, भाष्यादि में श्रमण का अर्थ साधु किया गया है। सूत्रकृतांग सूत्र के १६वें अध्याय के मूल पाठ से सुस्पष्ट है कि पंचमहाव्रतधारी पापों से विरत मुनि ही 'श्रमण' पद का वाच्य है। अर्द्धमागधी कोष में भी श्रमण का अर्थ साधु ही किया है। अभिधान राजेन्द्र कोष में भी श्रमण का अर्थ श्रावक नहीं किया है। अनेक मूल आगम पाठों एवं अनेक विद्वानों, पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अर्थ का तिरस्कार करके श्रमण का अर्थ श्रावक करना तीर्थंकर भगवन्तों की आशातना है।

कभी-कभी भगवती के २०वें शतक का आधार लेकर "तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णो समणसंघे, तंजहा समणा समणीओ, सावया, सावियाओ" इस पाठ का आधार लेकर कहा जाता है कि श्रमण संघ में श्रावक-श्राविका भी सम्मिलित हैं।

श्रमण-संघ का तात्पर्य है- श्रमण का संघ। भगवान् महावीर को श्रमण कहा गया है- यथा "समणे भगवं महावीरे" भगवान् महावीर के संघ को श्रमण संघ कहा जाता है। श्रमण संघ का एक अन्य अर्थ श्रमण प्रधान संघ है। श्रावक को ही यदि श्रमण माना जाए तो फिर भगवान् श्रावक को श्रमणोपासक क्यों कहते हैं?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार सूत्र में गाथा उल्लिखित है- ''समणेणं सावएणं य अवस्सं, कायव्वयं हवइ जम्हा, अंतो अहो णिसिस्स य तम्हा आवस्सयं णाम।'' श्रमण/श्रावक के द्वारा उभयकाल अवश्य करणीय होने से इसे आवश्यक कहा जाता है। यदि श्रमण शब्द से ही श्रावक ध्वनित होता है तो आगमकार श्रमण तथा श्रावक इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न प्रयोग नहीं करते।

तीर्थंकर देवों ने श्रमण शब्द का प्रयोग साधु के अर्थ में किया है, श्रावक के अर्थ में नहीं। ऐसी स्थिति में श्रमण सूत्र को श्रावकों के प्रतिक्रमण से जोड़ना आगमों के अनुकूल नहीं लगता।

२. पूर्वपक्ष- इच्छामि पडिक्कमिउं का पाठ- श्रावक को भी पौषध आदि प्रसंगों के होने पर निद्रा से लगे दोषों से निवृत्त होने के लिए यही पाठ बोला जाता है अन्यथा उसके लिए और कोई पाठ नहीं है।

उत्तरपक्ष- यह बात ठीक नहीं, क्योंकि पौषधगत दोषों की आलोचना ११वें पौषध व्रत के पाँच अतिचारों से हो जाती है। उसमें भी पाँचवाँ अतिचार ''पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया'' अर्थात् पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, के अन्तर्गत पौषधगत दोषों का शुद्धीकरण हो जाता है।

३. पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए का पाठ- प्रतिमाधारी श्रावक भिक्षोपजीवी ही होते हैं। कई स्थानों पर दयाव्रत की आराधना करने वाले श्रावक भी गोचरी करते हैं। उसमें लगे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए दूसरा पाठ बोलना ही चाहिए।

उत्तरपक्ष- प्रायः वर्तमान में श्रावक के द्वारा ग्यारहवीं उपासक पडिमा का प्रसंग...नहीं है। आगम में ११ वीं पडिमा में ही श्रावक के लिए गोचरी का विधान है। साफ है यह पाठ साधु प्रतिक्रमण में ही होना चाहिए।

४. पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि चाउक्कालं का प्रतिलेखना संबंधी पाठ- उत्तराध्ययन के २१ वें अध्ययन में ''निग्गंथे पावयणे सावए से विकोविए'' पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन में कोविद था तथा उत्तराध्ययन के २२वें अध्ययन के अनुसार ''सीलवंता बहुस्सुया'' राजीमती जी दीक्षा से पूर्व बहुत सूत्र पढ़ी हुई थीं, तो वे दोनों समय उपकरणों की प्रतिलेखना करती ही होंगी। यदि नहीं भी करती तो भी यह तीसरी पाटी आवश्यक सिद्ध होती है।

उत्तरपक्ष- यह ठीक ही है कि श्रावक भी पौषध, दया में उभयकाल प्रतिलेखन करते ही हैं और कई विशेष धर्मश्रद्धा वाले श्रावक चारों कालों में स्वाध्याय करते हुए वर्तमान में भी देखे जाते हैं। पौषध में लगे अतिचारों की शुद्धि तो पारने के पाठ से हो जाती है। सामान्य श्रावक के दोनों वक्त प्रतिलेखन का नियम नहीं है। शायद ही कोई श्रावक ऐसा हो जो उभयकाल स्टील, प्लास्टिक, काँच के बर्तन, सभी कपड़ों की प्रतिलेखना करता हो। साधु के लिए ही दोनों समय प्रतिलेखन आवश्यक है। चारों काल में स्वाध्याय साधु के लिए ही आवश्यक है। कुछ श्रावकों की दिनचर्या में यह नियत होता है, पर यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम नहीं। अतः चारों प्रहर स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने की आलोचना करने का क्या अर्थ?

५. **पूर्वपक्ष- पडिक्कमामि एगविहे-** ३३ बोल में कुछ हेय, कुछ ज्ञेय तथा कुछ उपादेय हैं। इनका ज्ञान श्रावकों के लिये अनिवार्य है।

उत्तरपक्ष- मात्र ज्ञेयता के आधार पर श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में जोड़ना योग्य नहीं है। वैसी स्थिति में ५ महाव्रत, ५ समिति ३ गुप्ति एवं षट्कायरक्षा के पाठ भी श्रावक के लिए ज्ञेय हैं तथा पौषध आदि के अवसरों पर मनोरथ चिंतन के समय ध्यातव्य हैं वे पाठ भी श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं जोड़े जाते? इन ३३ बोलों का वर्णन उत्तराध्ययन के ३१वें अध्ययन में किया गया है। "जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं जे भिक्खू चयइ णिच्चं"....इससे फलित होता है कि ३३ बोलों का संयोजन मुनि के साथ किया गया है।

६. **पूर्वपक्ष- नमो चउव्वीसाए-** यह पाठ निर्ग्रन्थ प्रवचन का है। जिसमें जिन प्रवचन की महिमा है, अतः श्रावकों के लिए उपयोगी है।

उत्तरपक्ष- इस पाठ में प्रारम्भ में यह बात द्योतित होती है, पर आगे कहा गया- "समणोऽहं संजय विरय..." यह प्रतिज्ञा साधु ही कर सकता है। कारण कि श्रावक तो संयतासंयत तथा विरताविरत होता है। यदि वह स्वयं को श्रमण-विरत कहता है तो उसे माया, असत्य लगता है। प्रतिमाधारी श्रावक से भी यदि कोई परिचय पूछे तो वह कहे- मैं श्रमण नहीं श्रमणोपासक हूँ।

निष्कर्ष- अतः श्रावक के प्रतिक्रमण में ५ पाठ तो क्या १ पाठ भी गहराई से अवलोकन करने पर उचित प्रतीत नहीं होता। श्रावक होते हुए भी स्वयं को श्रमण मानकर उन-उन कार्यों को न करते हुए भी उनकी आलोचना करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

प्रश्न श्रमण और श्रमणी के आवश्यक सूत्र के पाठ और क्रिया (विधि) में क्या-क्या अन्तर है?

उत्तर श्रमण और श्रमणी के निम्न पाठों में भिन्नता है-

१. शय्या सूत्र में "इत्थीविप्परियासियाए" के स्थान पर श्रमणी "पुरिसविप्परिया सियाए" पढ़ेगी।

२. ३३ बोल में विकथासूत्र में श्रमणी स्त्रीकथा की जगह पुरुषकथा पढ़ेगी। नवमें बोल में नववाड़ में जहाँ-जहाँ भी श्रमण 'स्त्री' शब्द उच्चारण करता है, उसके स्थान पर श्रमणी 'पुरुष' शब्द का उच्चारण करेगी। २२ परीषह में श्रमणी स्त्री परीषह के स्थान पर पुरुष परीषह कहेगी। २५ भावना में भी चौथे महाव्रत की भावना में स्त्री के स्थान पर पुरुष शब्द आयेगा। तैंतीसवें बोल में जहाँ भी गुरु-शिष्य शब्द श्रमण के लिए आता है, श्रमणी के लिए गुरुणी-शिष्या ऐसा पाठ आयेगा।

३. प्रतिज्ञा सूत्र नामक पाँचवीं पाटी में जहाँ पर 'समणो अहं' पाठ आता है, वहाँ समणी अहं ऐसा पाठ कहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. चौथे महाव्रत में साधुजी स्त्री-संबंधी मैथुन से त्रिकरण त्रियोग से पूर्ण विरत होते हैं, वहीं साध्वी जी पुरुष संबंधी मैथुन से विरत होती हैं। वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यंचनी के स्थान पर पुरुष तथा तिर्यंच शब्द बोलेंगी।

५. एषणा समिति में माण्डला के पाँच दोष हैं, जिनमें से एक दोष परिमाण का है। साधुजी के लिए शास्त्रकारों ने ३२ कवल का परिमाण, तो साध्वी जी के लिए २८ कवल का विधान किया है।

६. वचन गुप्ति में स्त्री कथा के स्थान पर पुरुष कथा पढ़ेगी।

पाठ में तो यह बात ध्यान में आई है।

विधि में अन्तर- श्रमण के लिए कायोत्सर्ग खड़े-खड़े जिन मुद्रा में करने का विधान है, जबकि श्रमणी के लिए कायोत्सर्ग सुखासन में बैठे-बैठे ही करने का विधान है। इस तरह चउवीसत्थव करते समय का कायोत्सर्ग, उसके बाद प्रथम सामायिक का कायोत्सर्ग, पाँचवें आवश्यक का कायोत्सर्ग यह सब बैठे-बैठे ही श्रमणी कायोत्सर्ग करती है। विधि में तो और कोई विशेष अन्तर ध्यान में नहीं आता।

प्रश्न अपरिग्रह व्रत की ५ भावनाओं का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर राग-द्वेष नहीं करना ही पाँचवें महाव्रत की ५ भावनाएँ हैं-

श्रोत्रेन्द्रिय संयम : प्रथम भावना- प्रिय एवं मनोहर शब्द सुनकर उनमें राग नहीं करना चाहिए। लोगों में बजाए जाने वाले मृदंग, वीणा, बाँसुरी आदि वाद्यों की ध्वनि सुनकर उन पर राग न करे। नट, नर्तक, मल्ल, मुष्टिक के अनेक प्रकार के मधुर स्वर सुनकर आसक्त न बने। युवतियों द्वारा नृत्य करने पर उत्पन्न ध्वनि सुनकर साधु रंजित न होवे, लुब्ध नहीं होवे। इसी प्रकार कानों को अरुचिकर लगने वाले अशुभ शब्द सुनाई दें तो द्वेष न करे। आक्रोशकारी, कठोर, अपमानजनक एवं अमनोज्ञ शब्द सुनाई देने पर साधु को रुष्ट नहीं होना चाहिए। शब्द मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ होने पर संवृत साधु त्रियोग से गुप्त होकर अन्तर आत्मा से अप्रभावित रहे।

चक्षुरिन्द्रिय संयम : दूसरी भावना- सचित्त स्त्री, पुरुष, पशु, अचित्त भवन, आभूषण, ५ वर्णों से सजे चित्र आँखों से देखकर उन पर अनुराग न लावें। सुन्दर मूर्तियों पर मोहित न हों। मन एवं नेत्र को अतिप्रिय लगने वाले प्राकृतिक दृश्य (वनखण्ड, तालाब, झरना) देखकर साधु उसमें आसक्त न हो। नट, नर्तक आदि मनोहारी रूप देखकर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए। मन को बुरे लगने वाले दृश्य (रोगी, कोढ़ी, विकलांग, बौना, कुबड़ा आदि) अमनोज्ञ पदार्थों को देखकर साधु उनसे द्वेष न करे। साधु चक्षुरिन्द्रिय संबंधी भावना से अपनी अन्तरात्मा को प्रभावित करता हुआ धर्म का आचरण करता रहे।

घ्राणेन्द्रिय संयम : तीसरी भावना- उत्तम सुगन्धों में आसक्त नहीं होना चाहिए। जल व स्थल पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न पुष्प आदि सुगन्धित पदार्थ जिनकी गंध दूर तक फैलती है, उन पर आसक्ति नहीं होनी चाहिए। उनका चिन्तन भी नहीं करना चाहिए, घ्राणेन्द्रिय से अप्रिय लगने वाली दुर्गन्ध के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए।

रसनेन्द्रिय संयम : चौथी भावना- साधु रसनेन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ एवं उत्तम रसों का आस्वादन करके आसक्त नहीं बने। वे द्रव्य जिनका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श उत्तम है। उत्तम वस्तुओं के योग से संस्कारित किये गए हैं, इस प्रकार के सभी उत्तम एवं मनोज्ञ रसों में साधु आसक्त नहीं होते। अमनोज्ञ, अरुचिकर, अनिच्छनीय, घृणित रसों पर साधु द्वेष नहीं करे। रसना पर नियंत्रण कर धर्म का पालन करे।

स्पर्शनेन्द्रिय संयम : पाँचवीं भावना- साधु स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुखदायक स्पर्शों का स्पर्श कर उनमें आसक्त नहीं बने। गर्मी में शीतल वायु का सेवन करना, कोमल स्पर्श वाले वस्त्र, शीतकाल में उष्ण वस्त्र, उष्ण ताप आदि, इसी प्रकार के अन्य सुखदस्पर्शों का अनुभव नहीं करना चाहिए। अमनोज्ञ स्पर्श, जैसे रस्सी आदि से बाँधना, हाथ में हथकड़ी, मच्छर के डंक आदि इस प्रकार के अन्य अनिच्छनीय एवं दुःखदायक स्पर्श होने पर साधु को उन पर द्वेष नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय संबंधी भावना से भावित आत्मा वाला साधु निर्मल होता है। मन-वचन-काया से गुप्त एवं संवृत्त रहकर, जितेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करता है।

(विस्तृत विवेचन प्रश्नव्याकरण सूत्र संवर द्वार ५ में)

प्रश्न निम्न साधना परक वाक्यों की आवश्यक सूत्र के संदर्भ में व्याख्या कीजिए -

१. की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।

२. निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।

३. जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।

४. आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।

५. अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।

६. प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।

७. **खामेमि सव्वे जीवा-** क्रोध विजय, **सव्वे जीवा खमंतु मे-** मान विजय, **मित्ती मे सव्वभूएसु-** माया विजय, **वेरं मज्झं न केणइ-** लोभ विजय का उपाय है।

८. रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जाना वास्तविक क्षमा है।

उत्तर (१) की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।

व्याख्या- 'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।' साधक के जीवन में कभी-कभी तीन निर्बलताएँ घर कर जाती हैं- १. मृत्यु का भय २. लक्ष्य-प्राप्ति में स्वयं को असमर्थ जानना। ३. की हुई भूल से रहित होने में संदेह। साधक वर्ग से भी भूल होना सहज है, पर भूल को भूल मानना प्रथम साधकता है और प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धीकरण कर उस भूल को न दोहराना श्रेष्ठ साधकता है। कोई भी भूल होने पर साधक को प्रथम तो मन में ग्लानि के भाव उत्पन्न होते हैं, यह पश्चात्ताप रूपी प्रतिक्रमण है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे पापमल को बहाकर साफ कर देता है। तत्पश्चात् साधक उस भूल की आत्मसाक्षी से निंदा करता है, गुरुसाक्षी से गर्हा करता है और उस दूषित आत्मा का सदा-सदा के लिए त्याग करता है अर्थात् कभी न दोहराने की प्रतिज्ञा से कटिबद्ध होता है, यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। 'मिच्छामि दुक्कडं' भी जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण शब्द है। यह एक शब्द सभी पापों को धोने की क्षमता रखता है, पर उसके जो भविष्य में उस पाप को नहीं करता है। 'तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा' वस्तुतः उसी साधक का दुष्कृत निष्फल होता है। कारण कि आलोचना के पीछे पश्चात्ताप के भाव अति आवश्यक हैं और अन्तःकरण से पश्चात्ताप हो जाये तो वह भूल कभी दुबारा हो ही नहीं सकती। (उदाहरण-मृगावती)

'से य परितप्पेज्जा' व्यवहार अ.७-१७९-१८० अर्थात् परिताप करने वाले को, गण से पृथक् करना (४था, ५वाँ) नहीं कल्पता- कथन भी यही सूचित करता है कि अन्तःकरण से पश्चात्ताप सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।

(२) निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।

व्याख्या-आवश्यक सूत्र का प्रथम सामायिक आवश्यक- आलोउं....तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित्त करणेणं....आत्मा को मन-वचन-काया की पाप-प्रवृत्तियों से रोककर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। इस साधना को साधने वाला साधक स्वयं को बाह्य सांसारिक दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर केन्द्रित कर लेता है और यह क्षण निर्दोषता का होता है। वर्तमान में निर्दोषता नहीं होगी तब तक दोष नजर नहीं आयेंगे। क्रोध करते समय क्रोध कभी बुरा नहीं लगता। समता के क्षण में ही ममता की भयंकरता प्रतीत होती है। भूतकाल की भूल को न दोहराने का व्रत लेने से ही वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। शराब के नशे में धुत व्यक्ति को शराब बुरी नहीं लगती है, जब वह नशा उतर जाता है तब ही उस पदार्थ की हानि पर अपना ध्यान लगा पाता है। ठीक उसी प्रकार निर्दोषता के क्षण में ही दोष ध्यान में आते हैं। अतः जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षण स्व के दोषों की खोज की जाती है, वह क्षण निर्दोषता का होता है। जीव जाने हुए दोषों का दृढ़तापूर्वक सदैव के लिए त्याग कर दे तो वह सदैव के लिए निर्दोष बन जाता है। जानते हुए अपनी निर्दोषता को सुरक्षित रखना ही सही पुरुषार्थ है।

(३) **जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।**

व्याख्या- 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।' जैन दर्शन में प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। भावहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं डाल सकती। अनुयोगद्वार सूत्र में भी द्रव्य व भाव का वर्णन किया गया है। भावशून्य आवश्यक करने वालों के लिए 'जस्स' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस किसी का। श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी के तो अनुयोगद्वार सूत्र में भावावश्यक ही स्वीकार किया गया है। भावावश्यक का विश्लेषण करते हुए फरमाया है कि- ''जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओ कालं आवस्सयं करेंति।'' जो ये शांत स्वभाव रखने वाले साधु-साध्वी, साधु के समीप जिनप्रणीत समाचारी को सुनने वाले श्रावक-श्राविका उसी आवश्यक में सामान्य प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में विशेष प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में शुभ परिणाम रूप लेश्या वाले, भावयुक्त उसी आवश्यक में विधिपूर्वक क्रिया करने के अध्यवसाय वाले, चढ़ते परिणाम वाले, उसी आवश्यक में सब इन्द्रियों को लगाने वाले, उसी आवश्यक में मन, वचन एवं काया को अर्पित करने वाले, उसी आवश्यक में भावना से भावित होने वाले, उसी आवश्यक के सिवाय अन्यत्र किसी स्थान पर मन न लगाते हुए चित्त की एकाग्रता रखने वाले दोनों समय उपयोग सहित आवश्यक करें। इन भावों के अभाव से किया गया आवश्यक साधना क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता है।

इन्द्रिय और मन आत्मा को बाहर की ओर ले जाते हैं और भीतर में जाने पर ही भाव आवश्यक होता है। जो साधक इन्द्रिय एवं मन के वश में नहीं, वह है अवशी और अवशी के द्वारा होने वाला आवश्यक भाव-आवश्यक है।

(४) **आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।**

व्याख्या- जैन धर्म स्वतंत्रता या इच्छा प्रधान धर्म है। यहाँ किसी आतंक या दबाव से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उल्लास न रखना अभिमत अथवा अभिहित नहीं है। बिना प्रसन्न मनोभावना के की जाने वाली धर्मक्रिया, कितनी भी क्यों न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है। इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्मक्रियाएँ तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं। विकासोन्मुख धर्म-साधना स्वतंत्र इच्छा चाहती है। मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहती है। यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र (इच्छामि, पडिक्कमामि, इच्छामि खमासमणो' आदि के रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। 'इच्छामि' का अर्थ है- 'मैं स्वयं चाहता हूँ' अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतंत्र भावना है। 'इच्छामि का एक और भी अभिप्राय है- शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि- "भगवन्! मैं आपको वंदन करने की इच्छा रखता हूँ। अतः उचित समझें तो आज्ञा दीजिए। आपकी आज्ञा का आशीर्वाद पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा।"

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन करने के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन करता है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं। नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। यह है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय। यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डता पूर्ण बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं। आचार्य जिनदास कहते हैं-

"एत्थ वंदितुमित्यावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता।"

'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए" यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञा सूत्र है। इसमें गुरुदेव से ईर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। 'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नहीं है, वह अपने आप ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है। प्रायश्चित्त में अपराधी की इच्छा स्वयं ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है। दण्ड में इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह बलात् ही लेना होगा। दण्ड में दबाव मुख्य है। अतः प्रायश्चित्त जहाँ अपराधी की आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समक्ष पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

(५)अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।

व्याख्या- समणोऽहं संजय-विरय.....मायामोसविवज्जिओ। यह सूत्र आत्मसमुत्कीर्तनपरक सूत्र है। "मैं श्रमण हूँ, संयत-विरत हूँ, पापकर्म का प्रत्याख्याता हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ, मायामृषा विवर्जित हूँ- यह बहुत उदात्त, ओजस्वी भावों से भरा हुआ अन्तर्नाद है। यह अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी है। संभव है स्वाभिमान पूरित शब्द सुनने में किसी को अहंकार पूरित भी लगे। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वत्र ग्राह्य है, आदरणीय है। उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि मैं इतना ऊँचा एक महान् साधक हूँ, फिर भला अकुशल पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सती राजीमती ने भी ऐसे ही स्वाभिमान पूरित शब्दों से रथनेमि को चेताया था "अहं च भोगरायस्स... संजमं निहुओ चर।।" (दशवैकालिक २/८) जबकि साधक को संयमोपरान्त अपने कुल-परिवार को याद नहीं करना चाहिए। यह 'आउरस्सणाणि' अनाचीर्ण है, फिर भी राजीमती की इस स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी को आगमकारों ने सुभाषित जाना और रथनेमि के साधक भाव जागृत हुए। यह तो वह आत्माभिमान है जो साधक को पापाचरण से बचाता है, यह तो वह आत्मसमुत्कीर्तन है जो साधक को धर्माचरण के लिए प्रखर स्फूर्ति, अचंचल ज्ञान-चेतना देता है तथा अन्तर्हृदय को वीररस से आप्लावित कर देता है। कीचड़ में फँसा हाथी कई रस्सियों से भी बाहर नहीं निकल पाता, पर युद्ध की भेरी, वीररस से परिपूर्ण स्वरों को सुन ऐसा आत्मसामर्थ्य जगाता है कि क्षण भर में दल-दल से बाहर निकल आता है।

(६) **प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।**

व्याख्या- लोगस्स, उत्कीर्तन सूत्र-

जैन दर्शन की यह विशेषता है कि इसमें भक्त और भगवान् का वर्ग अलग-अलग नहीं माना है। यहाँ तो फरमाया है कि हर साधक दोषों को देख उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करे तो सिद्ध हो सकता है। आत्मा, परमात्मा पद पा सकती है, दोषी, निर्दोष बन सकता है, इंसान ही ईश्वर बन सकता है। प्रथम आवश्यक में साधक निज दोषों को देखता है। कोई-कोई साधक अपने प्रति घृणा, हीनता की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। उस हीनता की ग्रंथि का नाश हो, इसलिए उत्कीर्तन करते हैं। उन महापुरुषों की स्तुति जो हम जैसे जीवन से ऊपर उठे, पूर्णता में पूर्ण लीन हो गये।

आत्मविश्वास को जगा, लक्ष्य की सही पहचान करने के लिए, लक्ष्य को प्राप्त करने वाले साध्य को प्राप्त अरिहंतों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। विहूयरयमला- मेरे समान ही कर्मरज से आप्लावित जीव भी पुरुषार्थ कर कर्म-रज से दूर हो गये। जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो गये।

अतः यह देख आत्मविश्वास जगता है, व्याकुलता बढ़ती है और भावना जगती है- सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। अर्थात् मैं भी अव्याबाध सुख, अनन्त ज्ञान-दर्शन से युक्त मोक्ष को प्राप्त करूँ। साधक तो जानता है कि सिद्धि स्वयं के पुरुषार्थ से मिलती है। परन्तु वह निज दोष अवलोकन कर निर्दोष बनना चाहता है। उस बीच किंचित् भी अहंकार न आ जाये, इसलिए दायक भाव उपचारित कर 'दिंतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

साधक को अपने दोषों से व्याकुलता बढ़ती है, तब वह अदृश्य द्रष्टा का आभास पा, उपलब्ध आत्म-आनन्द की अनुभूति से विभोर हो उठता है- कित्तिय वंदिय महिया....। "हे प्रभो! मम विभो! आप भी मेरे समान सांसारिक बंधनों से आबद्ध थे, अब विमुक्त बन गये, मैं भी शीघ्रातिशीघ्र आपके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान विमुक्त बनूँ।

(७) **खामेमि सव्वे जीवा**- क्रोध विजय, **सव्वे जीवा खमंतु मे**- मान विजय, **मित्ती मे सव्वभूएसु**- माया विजय, **वेरं मज्झं न केणइ**- लोभ विजय का उपाय है।

व्याख्या- दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि 'कोहो पीइं पणासेइ' क्रोध से प्रीति का नाश होता है। 'खामेमि सव्वे जीवा' में जीवमात्र पर प्रेम-प्रीति का महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है। भीतर रहे हुए क्रोध का शमनकर मैं जीवमात्र को खमाता हूँ। क्रोध उपशान्त हुए बिना, क्षमा का भाव आ ही नहीं सकता। आत्मीयता के धरातल पर ही साधक का जीवन पल्लवित एवं पुष्पित होता है। उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन में बताया- 'कोहविजएण खंतिं जणयइ' क्रोध को जीतने से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक सर्वगुण सम्पन्न कोई नहीं। सभी में दोष विद्यमान हैं तो सभी में गुण विद्यमान हैं। कम-ज्यादा प्रमाण हो सकता है। किन्तु दोषी के प्रति द्वेष करना भी तो नये दोष को जन्म देता है। अतः तत्क्षण दोषी पर द्वेष न करते हुए, उस पर माध्यस्थ भाव रखकर सम्यक् चिन्तन द्वारा मन को मोड़ना और सामने वाला कुछ कहे उसके पहले स्वयं आगे होकर सदा के लिये उसे क्षमा कर देना। यही तो क्रोध विजय है, जो 'खामेमि सव्वे जीवा' द्वारा घटित होता है।

'सव्वे जीवा खमंतु मे' अर्थात् सभी जीव मुझे क्षमा करें। इस पद में लघुता का भाव दिखाई देता है। किसी कवि ने कहा है- 'झुकता वही है जिसमें जान है और अकड़पन तो मुर्दे की खास पहचान है।' "अहंकारी दुःखी थवा तैयार छे, पण झुकी जवा तैयार नथी।" अहंकारी व्यक्ति कभी नमना, झुकना पसंद नहीं करता, क्योंकि उसकी मान्यता है-"I am Something" जब तक जीवन में लघुता नहीं आती, तब तक झुकना संभव नहीं है। 'सव्वे जीवा खमंतु मे' द्वारा साधक मृदुता से परिपूर्ण होकर कहता है- मैंने किसी का अपराध किया हो तो मैं क्षमायाचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। उत्तराध्ययन में बताया 'माणविजएण मद्दवं जणयइ।' मृदुता के साथ क्षमा माँगता है, अतः मान विजय भी उक्त पद द्वारा घटित होता है।

मित्ती मे सव्वभूएसु- दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८ में बताया है- 'माया मित्ताणि णासेइ' माया मित्रता का नाश करने वाली है। जहाँ कपट है, दंभ है, वहाँ मैत्री कैसी? और जहाँ मैत्री है वहाँ कपट कैसा? वहाँ तो सरलता है, स्वच्छता है, सहृदयता है, निष्कपटता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना है। कोई लुकाव-छिपाव नहीं है। केवल आत्मिक आत्मीयता है। अपनत्व की अनन्य अनुभूति है। जहाँ अपनत्व है, वहाँ कपट नहीं। मित्रता के लिए सरलता होनी जरूरी है- 'मित्ती मे सव्व भूएसु' पद में सरलता झलकती है, जो मान विजय से ही प्राप्त होती है।

वेरं मज्झं ण केणइ- लोभ विजय का सूचक है। लोभ को पाप का बाप बताया है। प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति की दृष्टि स्वार्थपूर्ति, उदरपूर्ति से युक्त दृष्टिगोचर होती है और उस स्वार्थपूर्ति में जो वस्तु/व्यक्ति बाधक बनता है, साधक उसके साथ वैर (द्वेष) कर लेता है। इच्छापूर्ति के लिए वह क्या नहीं करता? रथमूसल संग्राम इस बात का साक्षी है। पद्मावती की इच्छापूर्ति के लिए (केवल एक हार-हाथी के लिए) कितना घोर घमासान? उत्तराध्ययन सूत्र में बताया- 'लोभनिवृत्ति से ही संतोष की प्राप्ति होती है। यदि व्यक्ति संतोषी होगा तो न स्वार्थपूर्ति के लिए उसे इतना भटकना पड़ेगा और न ही इतना किसी से वैर होगा? क्योंकि वैर तो स्वार्थपूर्ति में बाधक बनने वाले से होता है। यदि भटकन ही न होगी तो वैर या अड़चन कैसी? 'वेरं मज्झं ण केणइ' द्वारा साधक कहता है- मेरा किसी से कोई वैर नहीं है। मैंने संतोष को अपना लिया है, अब मेरे द्वारा दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा कार्य कदापि नहीं होगा। 'संसार के संसरण को समाप्त करने का अभिलाषी सांसारिक विडम्बनाओं से ऊपर उठ आत्मभाव के धरातल पर प्रत्येक जीव में अपनत्व की अनादि से अननुभूत अनुभूति को कर, आत्मविभोर हो- 'वेरं मज्झं ण केणइ' के उद्घोष को गुंजित करके ही साधना का प्रारम्भ करता है। जैसे मुझे अपने सुख में बाधा मंजूर नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को भी। अतः वैर को जन्म देने वाले लोभ, लालसा, तृष्णा का त्यागकर मैं संतोष धारण करता हूँ और परिग्रह परिमाण (श्रावक के लिए), अपरिग्रह महाव्रत (साधु के लिए) को भी सार्थक करता हूँ। मेरे भीतर में वैर नहीं अर्थात् किसी के प्रति दुर्भाव का संग्रह-परिग्रह नहीं- लोभ-लालसा नहीं।

(८) रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।

व्याख्या- एकासन के प्रत्याख्यान में सागरियागारेणं भी एक आगार बताया। सागारिकाकार का अर्थ है- साधु के लिए गृहस्थ के भोजन के स्थान पर स्थित रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार और गृहस्थ के लिए जिसके सामने भोजन करना अनुचित हो, ऐसे व्यक्ति के भोजन स्थल पर आकर स्थित रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार। एकासन में भी यह आगार है, छूट है। यदि हम रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकते तो उससे आहार भी नहीं बनवाना चाहिए। क्योंकि उसकी दृष्टि लालसायुक्त होती है। वह सोचता है कि मालिक स्वयं तो सरस, गरिष्ठ, स्वादयुक्त आहार करता है और मुझे लूका-सूखा आहार देता है। आहार बनाते समय उसकी मानसिकता द्वेषयुक्त होती है। लालसा-तृष्णा तथा लोभयुक्त होती है। उसकी दृष्टि में एक प्रकार की हाय होती है और कभी-कभी तो वह दुराशीष भी दे बैठता है। वृद्ध अनुभवियों का भी कहना है कि 'जैसो खावे अन्न, वैसो होवे मन' उस दूषित आहार को ग्रहण करने से हमारी मानसिकता भी दूषित हो जाती है। एकासन में भी ऐसे व्यक्ति के सामने रहने पर स्थान परिवर्तन का आगार है। तो सामान्य स्थितियों में तो अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को तो रसोइये से आहार बनवाना ही नहीं चाहिए, ऐसा आशय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सागारियागारेणं' से स्पष्ट होता है।

(९) किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जाना वास्तविक क्षमा है।

व्याख्या- क्षमापना सूत्र- 'खामेमि सव्वे जीवा'

मैं सबको क्षमा प्रदान करता हूँ। क्षमा का अर्थ है- सहनशीलता रखना। किसी के किये अपराध को अन्तर्हृदय से भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना, प्रत्युत अपराधी पर अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना क्षमाधर्म की उत्कृष्ट विशेषना है। बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३५वें सूत्र में कहा है कि- कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशांत न होना चाहे, तब दूसरे उपशांत भिक्षु स्वयं आगे होकर उसे क्षमा प्रदान करे। इससे भी वह उपशान्त न हो और व्यवहार में शांति भी न लावे, तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशान्त नहीं होना चाहिए। उसके लिए अपराध को सदा के लिए भूलकर पूर्ण उपशांत एवं कषाय रहित हो जाने से स्वयं की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशांत रहने पर उसकी ही विराधना होती है, दोनों की नहीं। अतः साधक के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वयं पूर्ण शांत हो जाए, क्योंकि 'उवसमसारं खु सामण्णं' अर्थात् कषायों की उपशांति करना ही संयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। प्रत्येक स्थिति में शान्त रहना, यही संयम धारण करने का एवं पालन करने का सार है।

इस सूत्र में आगे कहा है- यदि श्रमण संघ में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग लें, तब तक आहार पानी लेने नहीं जा सकते, शौच नहीं जा सकते, स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। क्षमा के लिए कितना कठोर अनुशासन है।

क्षमा करने के बाद भी यदि सामने वाले की भूल स्मरण में आ जाती है, तो समझना चाहिए 'क्षमा' की ही नहीं। दूसरों के दोषों का स्मरण करना 'अक्षमा' है। यह अक्षमा भी क्रोध का ही पर्यायवाची नाम है। अंतर में द्वेष रहे बिना दूसरों की भूलों का स्मरण भी नहीं हो सकता और जहाँ द्वेष है, वहाँ क्षमा नहीं हो सकती। अपने हृदय को निर्वैर बना लेना ही क्षमापना का मुख्य उद्देश्य है। अतः यहाँ कहा गया है कि किसी की गलती प्रतीत होने पर, उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए भूल जाना वास्तविक क्षमा है। इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र का २९वाँ अध्ययन सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करता है-खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ।

अर्थात् किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतिकार-सामर्थ्य होते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना क्षमा है। क्षमापना से चित्त में परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। वह सभी प्राणियों के साथ मैत्री-भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादन कर लेता है। इससे राग-द्वेष का क्षय होकर भाव-विशुद्धि होती है और भाव विशुद्धि से व्यक्ति निर्भय हो जाता है।

प्रश्न १२५ अतिचारों में से निम्नांकित कार्यों में मुख्य रूप से कौन सा अतिचार लगता है और क्यों?

१. बिना पूँजे रात्रि में शयन करना २. बड़ों की अविनय आशातना करना ३. दीक्षार्थी के जुलूस को देखना ४. ताजमहल देखने जाना ५. निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना ६. मनपसन्द वस्तु स्वाद लेकर खाना ७. चारों प्रहर में स्वाध्याय न करना ८. अयतना से बैठना ९. शीतल वायु के स्पर्श में सुख अनुभव करना।

उत्तर **सामान्य रूप से कथन-** ज्ञान के १४, दर्शन के ५, संलेखना के ५, पाँच महाव्रतों की भावना के २५, रात्रि भोजन के २, ईर्या समिति के ४, भाषा समिति के २, एषणा समिति के ४७, आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति के २, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति के १०, मनोगुप्ति के ३, वचन गुप्ति के ३, काय गुप्ति के ३(संरंभ, समारंभ और आरंभ तीनों में) कुल १२५।

(१) बिना पूँजे रात्रि में शयन करना- अतिचार संख्या २४वाँ (१००-१०१), निक्षेपणा समिति (११८-१२६) काय गुप्ति 'आदान भण्ड-मत्त निक्खेवणा समिई भावणा' संयमी को चाहिए कि संयम-साधना में उपयोगी उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करे एवं यतना पूर्वक रखे। बिना पूँजे रात्रि में शयन करने से छः काय की विराधना होने की संभावना रहती है। अतः साधक को अपने देह की एवं शय्या संस्तारक आदि की भी प्रतिलेखना कर ही शयन करना चाहिए, नहीं तो उसके अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है।

(आचारांग २-३-१ सूत्र ७१४ से भिक्खू वा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहमाणे से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय पमज्जित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सिज्जासंथारए दुरुहिज्जा दुरुहित्ता तओ संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा)

(२) बड़ों की अविनय आशातना करना- अतिचार संख्या ३४, विणय समिई भावणा। साधक को अपने गुरुजनों का, साधर्मिक साधु-साध्वियों का विनय करना चाहिए। विनय धर्म का मूल है, विनय तप भी है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में विनय को विशेष महत्त्व दिया है। यदि साधक भगवान् की आज्ञा की आराधना नहीं करता, तो उसके तीसरे महाव्रत में दोष लगता है। कहा भी है कि तीन वंदना भी यदि अविधि या अविनय से करे तो तीसरे महाव्रत में दोष लगता है।

(३) दीक्षार्थी के जुलूस को देखना- अतिचार संख्या ४१- चक्षुइन्द्रिय असंयम। साधक तो स्वकेन्द्रित होते हैं। संयम पथ पर बढ़ती हुई विरक्त आत्मा को देख अनुमोदना करते हैं। किन्तु जुलूस आदि देखने से मात्र चक्षु-इन्द्रिय का विषय पोषित होता है। परिग्रह, द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार का होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उस दृश्य के प्रति लोभ ही खींचकर देखने के स्थान तक ले जाता है, लोभ से अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगना सहज है।

(४) ताजमहल देखने जाना- ४७वाँ अतिचार- देखने जाने में तो ईर्या समिति का अतिचार है, क्योंकि ईर्या का आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र है- ''तत्थ आलम्बणं नाणं दंसणं चरणं तहा'' जबकि ताजमहल देखने के निमित्त जाने में एक भी आलम्बन सिद्ध नहीं होता तथा अतिचार संख्या १६ तथा ४१ कंखा तथा चक्षुइन्द्रिय असंयम भी लगते हैं। ताजमहल, कुतुबमीनार, हाथी दाँत की मूर्तियाँ, काँच के महल, सरोवर, पर्वत आदि देखना संयमी जीवन के लिए अनुचित कार्य हैं। साधक का जीवन रागप्रधान नहीं, वैराग्य प्रधान होता है। वैराग्यप्रधान जीवन में चक्षु-इन्द्रिय के विषय को पोषित करने वाले दृश्य तुच्छ प्रतीत होते हैं। साधक का लक्ष्य आत्मावलोकन है, बाह्य अवलोकन नहीं। बाहर के दृश्य के प्रति राग संयमी साधक के अपरिग्रह महाव्रत को तो दूषित करते ही हैं साथ में दर्शन में अर्थात् सम्यक्त्व में भी दोष लगाते हैं। बाह्य आडम्बर देखना, उनकी आकांक्षा करना, संयम के मूल दर्शन गुण में अतिचार का कारण होता है। साधक का जीवन कई भव्य आत्माओं द्वारा अनुकरणीय होता है। वे आत्माएँ साधक को ऐसा करते हुए देखेंगी तो उनके पवित्र हृदय में भी उस स्थान के प्रति श्रद्धा जग सकती है। अतः ऐसी अनुचित प्रवृत्ति से साधुत्व तो मलिन होता ही है, अन्यान्य जीवों को भी दिग्भ्रम होता है।

(५) निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना- अतिचार संख्या ५३ वाँ, साथ ही और भी कई.... साधक वर्ग मात्र संयम पालन के लिए आहार-पानी ग्रहण करते हैं। ऐसे जीवन में चाय, काफी आदि तामसिक पदार्थों की तो कोई आवश्यकता ही नहीं होती। बीमारी आदि के समय उस अवस्था में इन पदार्थों की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु नियमितता तथा निर्धारितता नहीं होती। यहाँ चाय के समान अन्य खाद्य पदार्थों को भी समझा जाए। यदि निर्धारित समय पर चाय आदि लेने जाए तो एषणा समिति के कई अतिचारों की संभावना रहती है। आधाकर्मी- गृहस्थ को पता रहेगा कि अभी साधु-साध्वी यह पदार्थ लेने आने वाले हैं तो वह स्वयं की आवश्यकता न होने पर भी उनके लिए बनाकर रखेगा। इसमें ठवणा की भी पूरी-पूरी संभावना रहती है। मिश्रजात- अध्यवपूरक जैसे कई अतिचारों की संभावना बनी हुई रहती है। स्वयं की लोभवृत्ति होने से रसनेन्द्रिय असंयम होगा और अखण्ड रूप से ग्रहण किये गये पहले व ५वें महाव्रत में भी दोष लगेगा। स्वयं की लोभ प्रवृत्ति उत्पादना का भी दोष है। महाव्रतों, समिति आदि में दोष रूप थोड़ी सी चाय भारी कर्मबंध की हेतु बन सकती है।

(६) मनपसंद वस्तु स्वाद लेकर खाना- अतिचार संख्या ४३ और ९८ स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को आहार, रसनेन्द्रिय के विषय को वश में रखकर करना चाहिए मनोज्ञ वस्तु मिलने पर उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसा करते हुए खाने से संयम कोयले के समान हो जाता है। इससे तीसरी समिति में दोष लगता है, उस वस्तु के प्रति राग रखने से अपरिग्रह महाव्रत भी दूषित होता है।

(७) **चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करना-** अतिचार संख्या १२वाँ काले न कओ सज्झाओ- साधक को ज्ञानावरणीय आदि कर्मो की निर्जरा के लिए, अप्रमत्तता को बनाये रखने के लिए, चारों काल में स्वाध्याय करना चाहिए। अगर वह चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करता है तो ज्ञान का अतिचार लगता है। ज्ञान के प्रति बहुमान, आदर के भाव होने पर तो स्वाध्याय निरन्तर होता है। ज्ञान आराधना के प्रति लापरवाह हो स्वाध्याय नहीं करने से ज्ञानातिचार लगता है।

(८) **अयतना से बैठना-** अतिचार संख्या ११८-१२० कायगुप्ति नहीं रखना तथा १००-१०१ निक्षेपणा समिति का पालन न करना। साधु का जीवन यतना प्रधान जीवन है। उठना, बैठना, सोना, खाना, चलना आदि सभी कार्यो में यतना अत्यावश्यक है। उपासक वर्ग के लिए ५ समिति के साथ ही ३ गुप्ति भी ध्यातव्य है। अयतना से बैठना, हाथ-पैर फैलाना, समेटना आदि प्रवृत्तियाँ काय गुप्ति की खण्डना करती हैं। अतः साधक को दिन में विवेकपूर्वक देखकर तथा रात्रि में पूँजकर बैठना चाहिए। यहाँ तक कि रात्रि में दीवार का सहारा भी लेना पड़े तो बिना दीवार को पूँजे, सहारा लेना काय-अगुप्ति है। काया भी संयम में एक सहयोगी साधन ही है। उसमें अयतना चौथी समिति में भी दोष का कारण है।

(९) **शीतल वायु के स्पर्श से सुख अनुभव करना-** अतिचार क्रम संख्या ४४ स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को वीतराग भगवन्तों ने आगम में स्थान-स्थान पर इन्द्रियों को वश में रखने की प्रेरणा दी है। संयम भी तभी सुरक्षित रह सकता है। अतः साधक कछुए के समान इन्द्रियों को गोपित करते हुए चले। संयमी साधक ग्रीष्मऋतु में शीतलवायु आने के स्थान को ढूँढ कर वहाँ बैठकर सुख का अनुभव करता है तो अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगता है। शरीर पर मोह होना भी परिग्रह का ही रूप है।

प्रश्न अन्तर बताइये- १. पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में, २. चरण सत्तरी एवं करणसत्तरी में, ३.कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में, ४. श्रद्धा,प्रतीति एवं रुचि में, ५. संकल्प एवं विकल्प में, ६. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाए सज्झाइयं में।

उत्तर- १. **पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में अन्तर-** 'पगामसिज्जाए' का संस्कृत रूप 'प्रकामशय्या' होता है। शय्या शब्द शयन वाचक है और प्रकाम अत्यन्त का सूचक है। अतः प्रकामशय्या का अर्थ होता है- अत्यन्त सोना, चिरकाल तक सोना (उसमें)। इसके अतिरिक्त प्रकामशय्या का एक अर्थ और भी है, उसमें 'शेरेतेऽस्यामिति शय्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शय्या' शब्द संथारे के बिछौने का वाचक है। और प्रकाम उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होता है- प्रमाण से बाहर बड़ी एवं गद्देदार, कोमल गुदगुदी शय्या। यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए वर्जित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपल के विकट जीवन संग्राम में उसे कहाँ आराम की फुर्सत है। कोमल शय्या का उपभोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा। फलतः स्वाध्याय आदि धर्म क्रियाओं का भलीभाँति पालन न हो सकेगा।

'**निगामसिज्जाए**' का संस्कृत रूप 'निकामशय्या' है। जिसका अर्थ है- बार-बार अधिक काल तक सोते रहना। 'प्रकामशय्या' में सोने का उल्लेख है, किन्तु निकामशय्या में सोने के साथ प्रतिदिन और बार-बार शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है अर्थात् प्रकामशय्या का ही बार-बार सेवन करना, बार-बार अधिक काल तक सोये रहना 'निकामशय्या' है। इससे प्रमाद की अधिक अभिवृद्धि होती है, आत्म-विस्मरण होता है।

२. **चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी में अन्तर- चरणसत्तरी**- चर्यतेऽनेनेति चरणम्। चरण का अर्थ चारित्र होता है। चारित्र का पालन प्रतिसमय होता है। एक प्रकार से चरण को नित्य क्रिया कह सकते हैं। इसके ७० भेद हैं यथा- ५ महाव्रत, १० प्रकार का श्रमण धर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार की वैयावृत्त्य, ब्रह्मचर्य की ९ वाड़, ३ रत्न, १२ प्रकार का तप, ४ कषाय का निग्रह। इन ७० भेदों में से ५ महाव्रतादि का मूलगुण में समावेश होता है।

करणसत्तरी- क्रियते इति करणम्। करण का अर्थ होता है- क्रिया करना। यह प्रयोजन होने पर की जाती है। प्रयोजन न होने पर न की जाए, अर्थात् जिस अवसर पर जो क्रिया करने योग्य है, उसे करना। करण नैमित्तिक क्रिया है। इसके भी ७० भेद हैं- ४ प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ भिक्षु प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निरोध, २५ प्रकार की पडिलेहणा, ३ गुप्ति, ४ अभिग्रह = कुल ७०। स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन उत्तर गुण हैं। अतः २५ प्रकार की पडिलेहणा का उत्तर गुण में समावेश होता है।

३. **कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में भेद-** उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३० में व्युत्सर्ग का एक ही प्रकार कायोत्सर्ग बताया है तथा तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन ९ में अनशनादि के विवेचन में बताया गया है कि व्युत्सर्ग को ही सामान्य रूप से कायोत्सर्ग कहा जाता है। व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप होने के कारण कायोत्सर्ग भी आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३० तथा आवश्यक सूत्र का पाठ 'तस्स उत्तरीकरणेणं...पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।' कर्म-निर्जरा के लिए, कर्मनाश के लिए कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग का प्रयोजन कर्मनाश, दुःखमुक्ति या मोक्षप्राप्ति है काउस्सग्ग तओ..... सव्वदुक्ख विमोक्खणं। काय+उत्सर्ग=काया का त्याग। निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता को हृदय में रमाकर देह, लालसा अथवा ममत्व का त्याग करना। वैसे कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश दोनों में ही शरीर की आसक्ति को छोड़ना पड़ता है। लेकिन कायोत्सर्ग (भाव कायोत्सर्ग) में पूर्णरूपेण ममत्व का त्याग होता है, तभी जाकर धर्मध्यान, शुक्लध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्राप्ति होती है। इसमें कषाय त्याग भी जरूरी है, तभी भाव कायोत्सर्ग कहा जायेगा। इसके २ भेद होते हैं- १. द्रव्य २. भाव । कायोत्सर्ग तप ४ प्रकार का १. उत्थित उत्थित २. उत्थित निविष्ट ३. उपविष्ट निविष्ट ४. उपविष्ट उत्थित भी होता है।

कायक्लेश बाह्य तप है। बाह्य तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम नहीं है। आभ्यन्तर तप के बिना अकेला बाह्यतप पूर्ण निर्जरा कराने में असमर्थ है। कायक्लेश तप का प्रयोजन अनेकानेक आसनों द्वारा ध्यान की योग्यता संपादित करना है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कायक्लेश का प्रयोजन कायोत्सर्ग (भाव) की प्राप्ति के लिए ही है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है। शास्त्र सम्मत रीति से काया अर्थात् शरीर को क्लेश पहुँचाना कायक्लेश तप है। भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशक ७ स्थानस्थितिक, उत्कुटकासनिक आदि कष्टप्रद आसन करना कायक्लेश तप है। (औपपातिक सूत्र, तप विवेचन) इसमें भी आसक्ति तो छूटती है, लेकिन शरीर की। भीतर कषायासक्ति को छोड़ने के लिए उसे कायोत्सर्ग का आधार लेना ही पड़ता है। अतः आंशिक ममत्व त्याग होता है। कायक्लेश तप १३ प्रकार का होता है।

४. श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि में भेद-

श्रद्धा- ''तर्क अगोचर सद्दहो, द्रव्य धर्म, अधर्म,
केई प्रतीतो युक्ति सुं, पुण्य पाप सकर्म।
तप चारित्र ने रोचवो कीजे तस अभिलाष,
श्रद्धा प्रत्यय रुचि तिहुं बिन आगम भाष।।''

धर्मास्तिकाय ने इस जीव को बहुत भटकाया है, पूरा लोक घुमाया है। अधर्मास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त बार स्थिर किया है। आकाशास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त स्थान दिये हैं। काल द्रव्य ने इस शरीर को बहुत मारा और नष्ट किया है। जीवास्तिकाय वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी एवं शाश्वत है। यदि हमारी आत्मा वर्ण, गंध, रस रहित है तो मैं बाहरी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पीछे राग-द्वेष करके क्यों अपनी आत्मा का नुकसान करता हूँ? इनके पीछे आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करके अपनी आत्मा का अहित करता हूँ। ऐसा कोई क्षण नहीं, जिस वक्त इस जीव ने किसी वस्तु या व्यक्ति के पीछे राग-द्वेष न किया हो। पुद्गलों की साता भी धर्म नहीं है। पुद्गलों की शांति और मन की साता, यह आत्मा की साता से अलग है। पुद्गलास्तिकाय यह जीवों का मृत कलेवर है। इन पुद्गलों के पीछे भटकना, अपने लक्ष्य से भटकना है। बस इन्हीं तर्क अगोचर तत्त्वों पर, धर्मास्तिकाय आदि पर श्रद्धा करने के अर्थ से ही यहाँ 'सद्दहामि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल है। बिना श्रद्धा का ज्ञान पंगु के सदृश हो जाता है। उत्तराध्ययन के अध्ययन ३ में बताया- 'सद्धा परम दुल्लहा' किसी भी साधन की प्राप्ति इतनी दुर्लभ नहीं, जितनी श्रद्धा की प्राप्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्लभ है। यहाँ तर्क अगोचर, धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों पर श्रद्धा करने रूप से 'श्रद्धा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रतीति- 'पत्तियामि' प्रतीति करता हूँ। युक्ति से समझने योग्य पुण्य- पापादि पर प्रतीति करता हूँ। व्याख्याता के साथ तर्क-वितर्क करके युक्तियों द्वारा पुण्य-पाप आदि को समझकर विश्वास करना प्रतीति है। धर्मास्तिकाय आदि तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होते। लेकिन वीतराग वाणी तीनों काल में सत्य-तथ्य यथार्थ है। अतः 'तमेव सच्चं' का आलम्बन लेकर उस पर श्रद्धा करनी होती है, देखने में नहीं आती, अतः विश्वास नहीं होता, लेकिन भगवान् की वाणी है, ऐसा सोचकर 'श्रद्धा' अवश्य की जाती है। यहाँ 'पत्तियामि' में तर्क अगोचर तत्त्व न होकर युक्ति से समझने योग्य तत्त्वों की बात कही गयी है। समझने के बाद विश्वास होता है, श्रद्धा नहीं। पहले श्रद्धा करता हूँ तत्पश्चात् 'पत्तियामि' के द्वारा विश्वास करता हूँ अथवा उन तत्त्वों पर प्रीति करता हूँ।

रुचि- 'रोएमि' रुचि करता हूँ। व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप-चारित्र आदि सेवन करने की इच्छा करना। "मैं श्रद्धा करता हूँ।" श्रद्धा ऊपर मन से भी की जा सकती है, अतः कहता है मैं धर्म की प्रीति करता हूँ। प्रीति होते हुए भी कभी विशेष स्थिति में रुचि नहीं रहती। अतः साधक कहता है- 'मैं धर्म के प्रति सदाकाल रुचि रखता हूँ' 'सद्दहामि' में जीव श्रद्धा करता है। 'पत्तियामि' में विश्वास करता है और 'रोएमि' में पूर्व में जो श्रद्धा हुई थी, रुचि के द्वारा उस पर आचरण की इच्छा करता है, ऐसा प्रतीत होता है।

५. संकल्प एवं विकल्प में भेद (मनगुप्ति विषयक, उत्तराध्ययन ३२.१०७)- संकल्प एवं विकल्प दोनों विचारों से संबंधित हैं। संकल्प में तो मनोज्ञ वस्तु के संयोग की इच्छा करता है। विकल्प में अमनोज्ञ वस्तु का वियोग हो जाय, ऐसा विचार करना अथवा संकल्प के विविध उपाय का चिन्तन भी विकल्प है।

दृढ़ निश्चय करना भी संकल्प है, किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व की गई प्रतिज्ञा भी संकल्प है। विकल्प का शाब्दिक अर्थ- भ्रान्ति, धोखा भी है, चित्त में किसी बात को स्थिर करके, उसके विरुद्ध सोचना भी विकल्प है। जब संकल्पपूर्ति में कोई रुकावट आती है या कोई विरोध करता है, तब वह संक्लेश करता है। इन्द्रिय-क्षीणता आदि विवशताओं के कारण काम्यपदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता है तब शोक और खेद करता है, वह अनेक विकल्पों से विषादमग्न हो जाता है। संकल्प और विकल्प दोनों आर्त्तध्यान में आते हैं एवं विरुद्ध विचार आधिक्य से रौद्रध्यान भी हो जाता है। संकल्प से विषयों में आसक्ति हो जाती है, विघ्न पड़ने पर क्रोध होता है, क्रोध से अविवेक (मूढ़भाव), अविवेक से स्मृति भ्रम, स्मृति भ्रमित होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धि नाश से सर्वनाश अर्थात् श्रमण भाव से सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाए सज्झाइयं में अन्तर- जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो, उस समय में उसे पढ़ना 'अकाले कओ सज्झाओ अतिचार है। सूत्र दो प्रकार के हैं- कालिक और उत्कालिक। जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रातःकाल, सायंकाल आदि निश्चित समय का विधान है, वे कालिक कहे जाते हैं। जिनके लिए समय की कोई मर्यादा नहीं, वे उत्कालिक हैं। कालिक सूत्रों को उनके निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना 'अकाले कओ सज्झाओ' अतिचार है। ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। अनवसर की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि साधक शास्त्राध्ययन करता हुआ काल का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा, कब गोचरचर्या करेगा और कब गुरु भगवंतों की सेवा करेगा? स्वाध्याय का समय होते हुए भी जो अनावश्यक कार्य में लगा रहकर आलस्यवश स्वाध्याय नहीं करता वह ज्ञान का अनादर करता है। ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में बताया है कि ४ कारणों से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रंथियों को अतिशय ज्ञान/दर्शन प्राप्त होते-होते रुक जाते हैं। जिसमें तीसरा कारण 'पुव्वारत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवति।' जो रात्रि के पहले और अन्तिम समय में (भाग में) धर्म जागरण नहीं करते उन्हें अतिशय ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः काल के समय में प्रमाद कर अकाल में स्वाध्याय करना अतिचार है।

असज्झाए सज्झाइयं का तात्पर्य है- अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना। अपने या पर के (व्रण, रुधिरादि) अस्वाध्याय में तथा रक्त, माँस, अस्थि एवं मृत कलेवर आस-पास में हो तो वहाँ अस्वाध्याय में तथा चन्द्रग्रहणादि ३४ (३२) अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने को 'असज्झाए सज्झाइयं' अतिचार कहते हैं। 'अकाले कओ सज्झाओ' में केवल काल की अस्वाध्याय है, लेकिन 'असज्झाए सज्झाइयं' में काल के साथ-साथ अन्य आकाश संबंधी, औदारिक संबंधी कुल ३४ (३२) प्रकार के अस्वाध्याय का समावेश हो जाता है। इसके दो भेद हैं- १. आत्मसमुत्थ- स्वयं के रुधिरादि से। २. परसमुत्थ- दूसरों से होने वाले को परसमुत्थ कहते हैं, जबकि 'अकाले कओ...' का कोई अवान्तरभेद नहीं है।

प्रश्न टिप्पणी लिखिए- १. अठारह हजार शीलांग रथ २. यथाजात मुद्रा ३. यापनीय ४. श्रमण ५. अवग्रह ६. निर्ग्रन्थ प्रवचन।

उत्तर (१) अठारह हजार शीलांग रथ-

जे नो करेंति मणसा, निज्जियाहार-सन्ना-सोइंदिए।
पुढवीकायारंभे, खंतिजुआ ते मुणी वंदे॥
जोगे करणे सण्णा, इंदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोणेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे णो करेंति	जे णो कारवेंति	जे नाणु मोयंति
६०००	६०००	६०००
मणसा	वयसा	कायसा
२०००	२०००	२०००

निज्जियः आहारसन्ना	भयसन्ना	मेहुणसन्ना	परिग्गहसन्ना
५००	५००	५००	५००

श्रोत्रेन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय
१००	१००	१००	१००	१००

पृथ्वी	अप्	तेउ	वायु	वनस्पति	बेइ.	तेइ.	चउ.	पंचे.	अजीव
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०
क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव	लाघव	सत्य	संयम	तप	ब्रह्मचर्य	अकिंचन

१० आरम्भ x १० यति धर्म = १०० भेद
पाँचों इन्द्रियों के भी प्रत्येक के १०० = १०० x ५ = ५००
ये प्रत्येक संज्ञा ५०० भेद = ५०० x ४ = २०००
२००० x ३ योग = ६०००
६००० x ३ करण = १८००० शीलांग रथ धारा

(२) यथाजात मुद्रा- गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिये शिष्य को यथाजात मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथाजात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथाजात का अर्थ है- यथा-जन्म अर्थात् जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा। जब बालक माता के गर्भ में जन्म लेता है, तब वह नग्न होता है, उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहए। बालक अज्ञान में है, अतः वहाँ कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेकपूर्वक अपनाता है। जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है। गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नग्न तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नग्नता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नग्न मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीन काल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम मुद्रा कर लेने में ही यथाजात मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथाजात का अर्थ 'श्रमणवृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी संसार गर्भ से निकलकर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है। जब साधक श्रमण बनता है तब रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास नहीं रखता है एवं दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर वन्दन करने की मुद्रा में गुरुदेव के समक्ष खड़ा होता है। अतः मुनि दीक्षा ग्रहण करने के काल की मुद्रा भी यथाजात मुद्रा कहलाती है।

(३) यापनीय- यापनीय कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं' अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दबाव से लाचार होकर गिरी-पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ। अपितु वंदना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमांचित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ। सशक्त एवं समर्थ शरीर ही विधिपूर्वक धर्मक्रिया का आराधन कर सकता है। दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्मक्रिया कर नहीं सकता और यदि किसी के भय से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अविधि से करता है। जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है। धर्म-साधना का रंग स्वस्थ एवं सबल शरीर होने पर ही जमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई सुन और समझ सके तो? 'जावणिज्जाए निसीहियाए त्ति अणेण शक्रत्वं विधि य दरिसिता' यात्रा के समान 'यापनीय' शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यापनीय का अर्थ है- मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना। अर्थात् उनको अपने वश में- नियंत्रण में रखना। मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियन्त्रित रहना, अकुशलता है, अयापनीयता है और इनका उपशान्त हो जाना नियंन्त्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है। कुछ हिन्दी टीकाकार- पं. सुखलाल जी ने 'जवणिज्जं च भे' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है।'

आचार्य हरिभद्र ने भी इस संबंध में कहा है- 'यापनीयं चेन्द्रिय- नोइन्द्रियोपशमादिना अकारेणं भवतां शरीरमिति गम्यते।' यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि- यापनीय दो प्रकार के हैं- इन्द्रिययापनीय और नोइन्द्रिययापनीय। पाँचों इन्द्रिय का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय यापनीयता है और क्रोधादि कषायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना, उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय यापनीयता है।

''जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते तंजहा ! इन्द्रियाजवणिज्जे य नोइन्द्रिय जवणिज्जे य'' आचार्य अभयदेव भगवतीसूत्र के उपर्युक्त पाठ का विवेचन करते हुए लिखते हैं-यापनीयं= मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक-इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः। भगवती सूत्र में नोइन्द्रिय से मन नहीं, किन्तु कषाय का ग्रहण किया गया है, कषाय चूंकि इन्द्रिय सहचरित होते हैं, अतः नो इन्द्रिय कहे जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनदास भी भगवती सूत्र का ही अनुसरण करते हैं- ''इन्द्रिय जवणिज्जं निरुवहताणि वसे य मे वट्टंति इंदियाणि, नो खलु कज्जस्स बाधाए वट्टंति इत्यर्थः। एवं नोइन्द्रियजवणिज्जं कोधादिए विणो मे बाहेंति''-आवश्यक चूर्णि।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार यापनीय शब्द का भावार्थ यह है कि 'भगवन्! आपकी इन्द्रिय विजय की साधना ठीक-ठीक चल रही है? इन्द्रियाँ आपकी धर्म साधना में बाधक तो नहीं होती? अनुकूल ही रहती हैं न? और नोइन्द्रिय विजय भी ठीक-ठीक चल रही है न? क्रोधादि कषाय शान्त है न? आपकी धर्मसाधना में कभी बाधा तो नहीं पहुँचाते?

(४) **श्रमण**- १. श्रमण शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। प्राकृत शब्द 'समण' के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं- श्रमण, समन और शमन। २. समन का अर्थ है समता भाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। सभी के प्रति समता भाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बातें अपने को बुरी लगती हैं, वे दूसरों के लिए भी बुरी हैं। ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'' यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। ३. शमन का अर्थ है- अपनी वृत्तियों को शान्त करना।

''जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ य समणुणइ तेण सो समणो।'' जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है। यह समझकर जो स्वयं न हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

''णत्थि य से कोई वेसो, पिओ अस्सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ'' जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है। आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के 'समण' शब्द का निर्वचन 'सममन' करते हैं। जिसका सार सब जीवों पर सम अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है।

''तो समणो जइ सुमणो, भावेइ जइण होइ पावमणो। समणे य जणे य समो, समो अ माणावमाणेसु।''

श्रमण सुमना होता है, वह कभी भी पापमना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिंतन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान-अपमान में बुद्धि का उचित संतुलन रखता है, वह श्रमण है। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। अर्थात् जो अपने ही श्रम से तपःसाधना से मुक्ति लाभ प्राप्त करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। 'श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य शीलांक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत १६वें अध्ययन में 'श्रमण' शब्द की यही श्रम और सम संबंधी अमर घोषणा कर रहे हैं- ''श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं तुल्य मित्रादिषु मनः अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः'' सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६वीं गाथा में भगवान् महावीर ने साधु के माहन, श्रमण और भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ इस प्रकार ४ सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। साधक के प्रश्न करने पर भगवान् ने उन शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भावप्रधान व्याख्या की है। ''जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्षमार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।

(५) **अवग्रह**- जहाँ गुरुदेव विराजमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर, चारों दिशाओं में आत्म-प्रमाण अर्थात् शरीर-प्रमाण साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है। इस अवग्रह में गुरुदेव की आज्ञा लिए बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। गुरुदेव की गौरव-मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए। यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आवश्यक कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिये। अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं- ''चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते'' प्रवचनसारोद्धार के वन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं-

आयप्पमाणमित्तो, चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।।
अणणुन्नायस्स सया न कप्पइ तत्थ पविसेउं ।।

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गये हैं- **नामावग्रह**- नाम का ग्रहण, **स्थापनावग्रह**- स्थापना के रूप में किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, **द्रव्यावग्रह**- वस्त्र, पात्र आदि किसी वस्तु विशेष का ग्रहण, **क्षेत्रावग्रह**- अपने आस-पास के क्षेत्र विशेष एवं स्थान का ग्रहण, **कालावग्रह**-वर्षाकाल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, **भावावग्रह**-- ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण। वृत्तिकार ने वन्दन प्रसंग में आये अवग्रह के लिए क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है। भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारी का अवग्रह और साधर्मिक का अवग्रह। इस प्रकार जो आज्ञा ग्रहण करने रूप पाँच अवग्रह कहे गये हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) **निर्ग्रन्थ प्रवचन**- मूल शब्द है- निग्गंथं पावयणं। 'पावयणं' विशेष्य है और 'निग्गंथं' विशेषण है। जैन साहित्य में 'निग्गंथं' शब्द सर्वतोविश्रुत हैं। 'निग्गंथं' का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है- धन, धान्य आदि बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु। ''बाह्याभ्यन्तरग्रन्थानिर्गताः साधवः'' निर्ग्रन्थों-अरिहंतों के प्रवचन नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन हैं। 'निर्ग्रन्थानामिदं-नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति' -आचार्य हरिभद्र। मूल में जो 'निग्गंथं' शब्द है, वह निर्ग्रन्थ वाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य वाचक है। अब रहा 'पावयणं' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तरण हैं- प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन। शब्द भेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं- ''जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम साहित्य।'' आचार्य जिनदासगणी आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं-'पावयणं सामाइयादि, बिन्दुसारपज्जवसाणं, जत्थ नाण-दंसण-चारित्त-साहणवावारा अणेगया वण्णिज्जंति।'आचार्य हरिभद्र लिखते हैं-- ''प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।''

प्रश्न समीक्षा कीजिए- (गुणनिष्पन्न ६ आवश्यक से)

१. आवश्यक आत्मिक स्नान है २. आवश्यक आत्मिक शल्य क्रिया है ३. आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है।

उत्तर १. **आवश्यक आत्मिक स्नान है**- आवश्यक सूत्र के गुणनिष्पन्न नाम १. सावद्ययोगविरति २. उत्कीर्तन ३. गुणवत्प्रतिपत्ति ४. स्खलित निन्दना ५. व्रण-चिकित्सा और ६. गुणधारण हैं। इन नामों के आधार पर आवश्यक आत्मिक स्नान है, की समीक्षा- १. किसी व्यक्ति के द्वारा ऐसा विचार, संकल्प किया जाना कि मैं स्नान करके, पसीने या मैल आदि को दूर करके शारीरिक शुद्धि करूँगा। उसी प्रकार किसी मुमुक्षु आत्म-साधक के द्वारा ऐसा संकल्प किया जाना कि आत्मशुद्धि में प्राणातिपात आदि सावद्य योगों से विरति को ग्रहण करता हूँ। २. जैसे स्नान करने वाला देखता है कि जिन्होंने स्नान किया है, उन्होंने शारीरिक विशुद्धि को प्राप्त कर लिया है, उनको देखकर वह मन में प्रसन्न होता है और उनकी प्रशंसा भी करता है, उसी तरह आत्मिक स्नान में साधक, पूर्ण समत्व योग को प्राप्त हो चुके अरिहन्त भगवन्तों को देखकर मन में बहुत ही प्रसन्नचित्त होता है और वचनों के द्वारा भी उनके गुणों का उत्कीर्त्तन करता है। ३. जैसे शारीरिक शुद्धि हेतु जो स्नान करने को उद्यत हुए हैं, उनको देखकर शरीरशुद्धि को महत्त्व देने वाला व्यक्ति मन में अहोभाव लाता है कि देखो यह शरीर शुद्धि के लिए अग्रसर हो रहा है, उसी प्रकार आत्मिक स्नान कर अपने दोषों का निकन्दन करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर शिष्य के मन में अहोभाव जागृत होता है, और वह शिष्य उनके गुणों के विकास को देखकर गद्‌गद् बना हुआ गुणवत्प्रतिपत्ति करता है अर्थात् उनके प्रति विनयभाव करता है। ४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे-किसी ने स्नान किया और स्नान करने के बाद कभी भूलवश कीचड़ आदि अशुचि लग गई तो उस अशुचि स्थान की वह व्यक्ति शुद्ध जल से शुद्धि करता है, वैसे ही आत्मिक स्नान करने वाला साधक जो कि व्रतों को अंगीकार करके व्रतों की निर्दोष पालना में आगे बढ़ रहा है, किन्तु कभी प्रमादवश कोई स्खलना हो जाने पर उस स्खलित दोष की निन्दना कर उस दोष से पीछे हटकर पुनः निर्दोष आराधना में आगे बढ़ता है। ५. जैसे स्नान करने किसी व्यक्ति के शरीर में कोई व्रण (घाव) लगा हुआ है तो वह मलहम आदि दवा लगाकर उसका उपचार करता है, उसी प्रकार आत्मिक स्नानकर्ता के व्रतों में दोष रूप व्रण (घाव) होने पर वह प्रायश्चित्त रूप औषध का प्रयोगकर उस भाव व्रण की चिकित्सा करता है। ६. शारीरिक स्नान करने वाला व्यक्ति जैसे स्नान कर लेने के बाद तेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ लगाकर विशेष रूप से शरीर को सजाता है, वैसे ही भाव व्रण आदि को दूर कर लेने के बाद आत्मिक स्नान करने वाला साधक छठे आवश्यक में कुछ प्रत्याख्यान अंगीकार करके विशेष रूप से गुणों को धारण करके अपने संयमी-जीवन की आन्तरिक तेजस्विता में अभिवृद्धि करता है।

२. **आवश्यक आत्मिक शल्यक्रिया है-** १. जैसे किसी व्यक्ति के किसी व्यसन आदि बाह्य निमित्त के कारण तथा उपादान रूप आभ्यन्तर कारण से कैंसर की गाँठ आदि के रूप में कोई बड़ा रोग हो गया। वह रोगी व्यक्ति विचार करता है कि इस रोग को मुझे आगे नहीं बढ़ाना है। उसी तरह कर्म के कैंसर रोग से पीड़ित व्यक्ति मन में विचार करता है कि अब मैं रोग के कारण हिंसा, झूठ आदि किसी भी सावद्य व्यापार का सेवन नहीं करूँगा। २. वह रोगी व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ लोगों को देखकर विचार करता है कि ये लोग धन्य हैं, जिन्होंने इस भव, परभव में शुभ कर्म किये हैं और जीवन में कोई कुव्यसन का सेवन नहीं किया है, जो अभी साता से, शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसी तरह आत्म शल्यक्रिया का साधक पूर्ण आत्मिक स्वस्थता को प्राप्त अरिहन्त भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों की स्तुति, उनके गुणों का उत्कीर्तन करता है। ३. कोई व्यक्ति अभी भी जीवन में कोई व्यसन नहीं रखता है, किसी तरह के अशुभ कर्म करके असाता-वेदनीय का बंध नहीं करता है, अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखता हुआ रहता है, उसे देखकर रोगी व्यक्ति उसके प्रति विनय तथा आदर का भाव रखता है, उससे शिक्षा लेता है, उसी प्रकार आत्मिक शल्य क्रिया में आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति आत्मिक स्वस्थता के क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर उनसे सीख लेता है तथा उनके प्रति विनय भाव रखता हुआ उनके गुणों के प्रति गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। ४. जैसे शारीरिक शल्य क्रिया करता हुआ व्यक्ति अपने मन में स्वकृत दोषों के प्रति ग्लानि तथा निन्दा के भाव लाता है और सोचता है अब ऐसी गलती नहीं करूँगा, जिससे मुझे रोगी बनना पड़े। वैसे ही आत्मिक शल्यक्रिया करने वाला साधक अपने आभ्यन्तर आत्मिक रोगों के लिए मन में ग्लानि व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मनिंदा के भाव लाता है, सोचता है मेरे द्वारा पाप से पीछे नहीं हटने के कारण ही मैं संसार में जकड़ा हुआ हूँ और आगे के लिए दोष सेवन नहीं करने का संकल्प करता हूँ, यह स्खलित निन्दना है। ५. जैसे शारीरिक स्तर पर कैंसर आदि की गाँठ से पीड़ित रोगी शल्य क्रिया के द्वारा अपने शरीरस्थ गाँठ को निकलवा कर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपने रोग का उपचार कर लेता है, वैसे ही महाव्रतों की आराधना करते हुए कभी दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त रूप उपचार से अपने भाव व्रण की चिकित्सा कर लेता है। ६. जैसे शल्यक्रिया (ऑपरेशन) के बाद रोगी के शरीर में कमजोरी आ जाती है, तो वह पौष्टिक दवा (टॉनिक) आदि का सेवन करके शरीर को वापस पुष्ट, बलवान बनाता है, वैसे ही आत्मिक शल्यकर्ता छठे आवश्यक में अनेक प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान आदि अंगीकार करके अपने आत्मगुणों में अभिवृद्धि कर लेता है।

३. **आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है-** १. जैसे मानसिक रूप से रोगी व्यक्ति अपने मानसिक रोग को उपशान्त करने का संकल्प करता है एवं सोचता है मैं अब रोगी नहीं रहूँगा, मानसिक स्वास्थ्य लाभ को प्राप्त करूँगा, वैसे ही कर्म रोग से पीड़ित व्यक्ति अपने आपको स्वस्थ बनाने का संकल्प करता है। कर्म रोग को बढ़ाने वाले सावद्य कार्यों से विरक्ति का संकल्प ग्रहण करता है। २. जैसे कोई व्यक्ति पहले मानसिक रोग से पीड़ित था और वह अब उपचारोपरान्त स्वस्थ है, उसे स्वस्थ देखकर यह खुश होता है, उसकी प्रशंसा करता है, वैसे ही कर्मयुक्त प्राणी, घातिक कर्म रहित अरिहन्त, अष्ट कर्म रहित सिद्ध भगवन्तों को देखकर, उनके प्रति अहोभाव लाता है, वैसा बनने का सुविचार करता है। उनके गुणों की स्तुति तथा उत्कीर्तन करता है। ३. कोई व्यक्ति पहले मानसिक रूप से पीड़ित था और आज मानसिक रोग का उपचार करता हुआ धीरे-धीरे मानसिक स्वस्थता को प्राप्त कर रहा है, ऐसे व्यक्ति को देखकर यह रोगी उस व्यक्ति के प्रति विनय, आदर, सम्मान का भाव लाता है, उससे प्रेरणा लेता है, सोचता है, मैं भी इसी तरह स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया को अपनाऊँगा। इसी तरह आत्मिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति, कर्म रोग को दूर करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों का विनय अर्थात् गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। ४. मानसिक रोगी सोचता है मैं पहले स्वस्थ था, मैंने ही नकारात्मक सोच-ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, तनाव आदि से अपने आपको 'आधि' ग्रस्त बनाया है और अपने दोषों की निन्दना करके वह दोषों का प्रतिक्रमण करता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि आत्मिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति सोचता है, मैंने मेरी गलती से ही दोष सेवन कर अपने को संसार में अटकाया है। ऐसा चिन्तन कर वह अपनी स्खलनाओं की निन्दा करता हुआ पापों से पीछे हट जाता है। ५. जैसे मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति किसी मनोचिकित्सक के पास जाकर रोगोपचार कराता है और स्वस्थता (मानसिक समाधि) को प्राप्त करता है, वैसे ही कर्मरोग से ग्रसित व्यक्ति प्रायश्चित्त करके अपने रोग का उपचार करता है। प्रायश्चित्त एक तरह का उपचार है जो भाव-व्रण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकित्सा करता है। ६. जैसे मानसिक रोगी व्यक्ति चिकित्सक के परामर्शानुसार सदैव सकारात्मक विचारधारा (Positive Thinking) ध्यान आदि को अपनाकर, अपनी मानसिक स्वस्थता में अभिवृद्धि करता है और दिमाग को सुदृढ़ बनाता है, वैसे ही कर्मरोग से पीड़ित साधक आत्मा को शक्तिशाली बनाने तथा आत्मविश्वास को सुदृढ़ करने हेतु, अनशन, कायक्लेश, कायोत्सर्ग आदि अनेक प्रकार के तप अपनाता है। संक्षेप में कहें तो १. समभाव से समाधि मिलती है। २. पूर्ण गुणियों को देखकर वैसा बनने का लक्ष्य बनता है ३. इस मार्ग में बढ़ते गुरुओं को देखकर आत्मविश्वास जगता है। ४. स्वयं दोषों से पीछे हटता है ५. पश्चात्ताप से शुद्धि करता है। ६. अनेक तरह के गुण धारण कर पूर्णता प्राप्ति के मग में डग भरता है।

प्रश्न दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही क्यों?

उत्तर इसके समाधान के निम्न बिन्दु हैं- १. उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्ययन में साधु समाचारी का सुन्दर विवेचन किया है। वहाँ गाथा ३८-३९ में दिन के चौथे प्रहर के चौथे भाग में लगभग (४५ मिनट) पूर्व स्वाध्याय को छोड़कर उपकरणों की प्रतिलेखना (मुँहपत्ती, ओघा, पात्र आदि) और उसके पश्चात् उच्चार-प्रस्रवण भूमि के प्रतिलेखन का विधान किया गया है। निशीथसूत्र के चौथे उद्देशक में तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमि(जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- अर्थात् नजदीक दूर, और दूर) की प्रतिलेखना नहीं करने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया गया है इस प्रतिलेखना में समय लगना सहज है और उसके पश्चात् प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने का विधान है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि दिन का प्रतिक्रमण सूर्यास्त होते समय प्रारम्भ करना चाहिए २. टीकाकारों ने भी सूर्य अस्त के साथ प्रतिक्रमण करने का उल्लेख किया है। ३. उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में आगे की गाथाओं में प्रतिक्रमण की सामान्य विवेचना की गई है। पच्चक्खाण के पश्चात् काल प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करने का विधान किया गया, जिससे ध्वनित होता है कि सूर्य अस्त के पश्चात् लगभग ३६ मिनट के अस्वाध्याय काल में प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक समाप्त हो जाते हैं। ४. तत्पश्चात् रात्रि के चारों प्रहर की चर्या का वर्णन किया गया है और चौथे प्रहर के चौथे भाग में काल प्रतिलेखना के बाद प्रतिक्रमण करने का विधान है। सूर्योदय होने के पश्चात् भण्डोपकरण आदि की प्रतिलेखना कर लेने (१२ मिनट) के बाद स्वाध्याय का प्रावधान है। अर्थात् रात्रि का प्रतिक्रमण रात्रि में ही सम्पन्न हो जाता है। प्रतिलेखना सूर्य की साक्षी से होती है, अस्तु उसके लिए दिन का प्रथम भाग नियत कर दिया और शेष अस्वाध्याय के समय अर्थात् रात्रि का प्रथम भाग और रात्रि के अन्तिम भाग में प्रतिक्रमण का समय नियत हो ही गया। ५. देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण सूँठ का गाँठिया लौटना भूल गये- प्रतिक्रमण की वन्दना करते समय सूँठ का गाँठिया गिरने से, स्मृति दौर्बल्य और उस कारण शास्त्रों को लिपिबद्ध करने की बात इतिहास में मिलती है। स्पष्ट है कि प्रतिक्रमण की वन्दना के समय रात्रि हो चुकी थी। यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्यास्त से पूर्व प्रत्याख्यान हो जाते तो, प्रतिक्रमण की आज्ञा लेते समय तो ३६ मिनट दिन शेष रहने से गाँठिया लौटाया जा सकता था। ६. छेदसूत्रों में रात्रि भोजन के अतिचारों का प्रायश्चित्त आदि के अधिकारों में सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी-पानी करने का उल्लेख उपलब्ध है अर्थात् कोई यह कहे कि सूर्यास्त के पूर्व प्रतिक्रमण का विधान है तो यदि ऐसा होता तो छेदसूत्रों में रात्रि के भोजन के अतिचारों के प्रायश्चित्त का विधान कैसे बताया जाता? अर्थात् दिन छिपने का पता न लगे और आहार करते हैं, ऐसे में यह स्पष्ट है कि सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी की जा सकती है। वर्तमान समय में भी प्रतिलेखन के समय का परिवर्तन देखने को मिल रहा है, परन्तु प्रतिक्रमण के समय का अतिक्रमण शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन माना जाता है और प्रायश्चित्त दिया-लिया जाता है ७. भावदेवसूरि कृत 'यति दिनचर्या' में भी 'जो पडिक्कमेइ सूरे अद्धनिबुड्डे जहा भणइ सुत्तं' इस गाथा से सूर्य के अर्द्ध अस्त होते ही प्रतिक्रमण का प्रारम्भ बताया है। उपर्युक्त विवेचना से दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही करना प्रमाणित हो जाता है।

प्रश्न आवश्यक सूत्र से तप के १२ भेदों में से किन-किन का आराधन होता है और कैसे?

उत्तर आवश्यक सूत्र से तप के १२ भेदों में से निम्नलिखित तपों के प्रत्यक्ष आराधन होने की संभावना है- १. कायक्लेश २. प्रतिसंलीनता ३. प्रायश्चित्त ४. विनय ५. स्वाध्याय ६. ध्यान ७. कायोत्सर्ग।

१. **कायक्लेश-** आवश्यक सूत्र करते हुए कायोत्सर्ग मुद्रा, उकडू आदि आसन हो जाते हैं, जो कि कायक्लेश तप के प्रकार हैं।

२. **प्रतिसंलीनता-** विविक्त शयनासन का सेवन करना तथा अपनी इन्द्रियों का संगोपन करना प्रतिसंलीनता तप है। आवश्यक के आराधक मुनि के विविक्तशयनासन होता ही है तथा इन्द्रियों और मन का संगोपन होने पर भाव आवश्यक संभव है, जिससे प्रतिसंलीनता तप हो जाता है। ३. **प्रायश्चित्त-** आवश्यक सूत्र करने वाला साधक अपने द्वारा हुई भूलों का प्रायश्चित्त स्वीकार करके आत्मशुद्धि करता है, आराधक होता है। पाँचवें आवश्यक में साधक प्रायश्चित्त अंगीकार करता है, जिससे प्रायश्चित्त तप हो जाता है।

४. **विनय-** तीसरा वंदन आवश्यक है, जिसमें शिष्य गुरुदेव को खमासमणो के पाठ से उत्कृष्ट वन्दन करता है। गुरुदेव का विनय करता है। वैसे प्रत्येक आवश्यक के पहले भी विनय रूप वंदन का प्रावधान है।

५. **स्वाध्याय-** आवश्यकसूत्र ३२ आगमों में से एक आगम है। प्रतिक्रमण करते समय प्रतिक्रमणकर्त्ता का स्वाध्याय तो सहज हो ही जाता है।

६. **ध्यान-** पहले सामायिक आवश्यक में (कायोत्सर्ग करते हुए भी) मुनिराज १२५ अतिचारों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन रूप ध्यान करते हैं और एकाग्र चिन्तन को ही ध्यान कहा है। किसी एक विषय में चित्त की स्थिरता ही ध्यान है। वैसे मुनि प्रतिक्रमण करते समय आर्त्त-रौद्र से बचकर धर्मध्यान में निमग्न होते हुए प्रतिक्रमण की पाटियों में चित्त को स्थिर करते हैं।

७. कायोत्सर्ग- पाँचवाँ आवश्यक ही कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग अर्थात् देह की चंचलता और ममता का त्याग। पाँचवें आवश्यक में साधक कायोत्सर्ग अंगीकार करता है, जिससे कायोत्सर्ग तप का भी आराधन हो जाता है। परोक्ष रूप से प्रत्याख्यान द्वारा अन्य तप भी संभावित हैं।

प्रश्न ३३ आशातना में आवश्यक सूत्र व दशाश्रुत स्कन्ध के अधिकार में क्या अन्तर है?

उत्तर गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना, ये दोनों आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एवं गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तों की भी आशातना होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार से कर सकते हैं- ''देव-गुरु की विनय-भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा-भंग करना या निन्दा करना, धर्म-सिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। अर्थात् असभ्य व्यवहार करना, आवश्यक सूत्र की चौथी पाटी में अरिहन्त भगवान् आदि की जो आशातनाएँ बताई गई हैं, वे इस तरह की आशातनाएँ हैं। जबकि दशाश्रुतस्कन्ध की तीसरी दशा में जो आशातनाएँ प्रदर्शित की गई हैं वे केवल गुरु और रत्नाधिक (संयम पर्याय में ज्येष्ठ) की आशातना से ही संबंधित हैं। गुरु के आगे, बराबर, पीछे अड़कर चलना। इसी तरह खड़े रहना तथा अविनय से उनके समीप बैठना से लगाकर गुरुदेव से ऊँचे आसन पर बैठने तक की ३३ आशातनाएँ दशाश्रुत स्कन्ध में वर्णित हैं। मुख्य अन्तर यही ध्यान में आता है।

प्रेषक : जगदीश प्रसाद जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org